IMPACT FACTOR 5.397 (SJIF USA)

बिहार शोध समागम
BIHAR SHODH SAMAAGAM

Multidisciplinary, Multi-Lingual, Peer Reviewed /Refereed Open Access Journal
Vol. 3, Issue 4, October-December, 2025
Available online : https://www.biharshodhsamaagam.com/
doi.org/10.5281/zenodo.23891641

ISSN : 3048-6971

वायलिन वादन की उत्तर भारतीय शैलियों के विभिन्न तत्त्व

डॉ. देवानंद पाठक
वरिष्ठ परियोजना प्रबंधक,
मीडिया प्रौद्योगिकी केंद्र,
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान कानपुर, कानपुर, उत्तर प्रदेश – 208016
ई-मेल: dpathak876@gmail.com

सारांश

भारतीय हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में वायलिन ने अपनी विशिष्ट वादन-क्षमता और अभिव्यक्ति की विविध संभावनाओं के कारण एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। यद्यपि वायलिन का वर्तमान स्वरूप पाश्चात्य संगीत परंपरा में विकसित हुआ, किंतु भारतीय संगीत में प्रवेश के पश्चात इसके वादन में ऐसे परिवर्तन हुए, जिनके माध्यम से इसे राग, स्वर, लय और ताल की भारतीय अवधारणाओं के अनुकूल बनाया गया। उत्तर भारतीय संगीत में वायलिन वादन की दो प्रमुख अभिव्यक्ति-शैलियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—गायकी-अंग और गतकारी अथवा तंत्रकारी-अंग। गायकी-अंग में वादक का प्रयास स्वर, मींड, गमक, आंदोलन, बोल-आलाप और तानों के माध्यम से कंठ-संगीत की भावात्मक एवं रागात्मक विशेषताओं को वाद्य पर प्रस्तुत करना होता है। इसके विपरीत, गतकारी-अंग में वाद्य की अपनी तकनीकी संभावनाओं, निश्चित गत, स्वर-समूहों, लयकारी, तोड़े और तिहाइयों को प्रमुखता दी जाती है। प्रस्तुत अध्ययन में इन दोनों शैलियों के स्वरूप, तकनीकी आधार, वादन-पद्धति और पारस्परिक संबंधों का विवेचन किया गया है। इसमें विशेष रूप से धनुष-प्रयोग, उँगलियों की गति, स्वर-लगाव, श्रुति की शुद्धता, राग-विस्तार और ताल के साथ संवाद जैसे तत्त्वों पर विचार किया गया है। साथ ही, पंडित वी. जी. जोग और डॉ. एन. राजम जैसे कलाकारों के योगदान के माध्यम से उत्तर भारतीय वायलिन वादन की विकास-यात्रा को समझने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द: वायलिन, हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत, गायकी-अंग, गतकारी-अंग, तंत्रकारी, राग-विस्तार, मींड, गमक, लयकारी, वाद्य-संगीत।

1. प्रस्तावना

भारतीय शास्त्रीय संगीत की मूल प्रकृति स्वरप्रधान और रागाश्रित है। इसमें किसी भी संगीत-प्रस्तुति का सौंदर्य केवल स्वरों के सही क्रम में निहित नहीं होता, बल्कि उन स्वरों के प्रयोग, उनके आपसी संबंध, स्वर-लगाव, मींड, गमक, लय और भावात्मक अभिव्यक्ति से निर्मित होता है। इसी कारण भारतीय संगीत में वाद्ययंत्र का मूल्यांकन केवल उसकी ध्वनि अथवा तकनीकी क्षमता के आधार पर नहीं किया जाता, बल्कि इस आधार पर भी किया जाता है कि वह राग की प्रकृति और गायन की सूक्ष्म विशेषताओं को कितनी प्रभावशीलता से प्रस्तुत कर सकता है।

हिंदुस्तानी संगीत में वाद्ययंत्रों की दो व्यापक अभिव्यक्ति-प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। पहली वह है जिसमें वादक कंठ-संगीत की विशेषताओं को अपने वाद्य पर उतारने का प्रयास करता है। इसे सामान्यतः गायकी-अंग कहा जाता है। दूसरी प्रवृत्ति में वाद्य की अपनी तकनीकी प्रकृति, ध्वनि-उत्पादन की पद्धति और वादन-कौशल को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह प्रवृत्ति तंत्रकारी-अंग के रूप में जानी जाती है। जब किसी प्रस्तुति का मुख्य आधार निश्चित गत, उसके स्वर-संयोजन

और उनके आधार पर विकसित होने वाली तोड़ियाँ तथा लयकारी हों, तब उसे गतकारी अथवा गत-प्रधान वादन के रूप में समझा जा सकता है।

वायलिन इन दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि इसमें स्वर की ऊँचाई को उँगलियों की सहायता से निरंतर बदला जा सकता है। सितार की भाँति इसमें स्थिर पर्दे नहीं होते। इसके कारण एक स्वर से दूसरे स्वर तक जाने में निरंतरता बनाए रखना संभव होता है। धनुष के प्रयोग से स्वर को लंबे समय तक बनाए रखा जा सकता है और उसकी तीव्रता, अवधि तथा भाव में सूक्ष्म परिवर्तन किए जा सकते हैं। इन विशेषताओं के कारण वायलिन पर गायकी-अंग की अभिव्यक्ति के साथ-साथ गतकारी और तंत्रकारी प्रकृति का वादन भी विकसित हुआ है।

उत्तर भारतीय वायलिन वादन के विकास में पंडित वी. जी. जोग, डॉ. एन. राजम, पंडित गजाननराव जोशी तथा पंडित डी. के. दातार जैसे कलाकारों का योगदान उल्लेखनीय है। इन कलाकारों ने वायलिन को केवल संगत के वाद्य के रूप में सीमित नहीं रखा, बल्कि इसे स्वतंत्र राग-प्रस्तुति के योग्य एकल वाद्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। विशेष रूप से डॉ. एन. राजम ने गायकी-अंग की सूक्ष्मताओं को वायलिन पर विकसित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया, जबकि पंडित वी. जी. जोग के वादन में राग-विस्तार, स्वर-शुद्धता, तानकारी और वाद्यगत दक्षता का प्रभावशाली समन्वय दिखाई देता है। वायलिन की इन दोनों शैलियों का अध्ययन केवल तकनीकी भिन्नता समझने के लिए ही नहीं, बल्कि यह जानने के लिए भी आवश्यक है कि भारतीय संगीत की एक ही रागात्मक परंपरा अलग-अलग वाद्यगत माध्यमों से किस प्रकार व्यक्त हो सकती है।

प्रस्तुत विषय में 'गतकारी' और 'तंत्रकारी' शब्दों का संबंध समझना भी आवश्यक है। तंत्रकारी-अंग वाद्य की अपनी तकनीक और वाद्यगत अभिव्यक्ति की अपेक्षाकृत व्यापक अवधारणा है, जबकि गतकारी का केंद्र निश्चित गत और उसके आधार पर विकसित होने वाली प्रस्तुति होती है। व्यवहार में दोनों के अनेक तत्त्व एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। इसलिए इस लेख में गतकारी को गत-प्रधान तंत्रकारी अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है।

2. वायलिन वादन की तकनीकी संरचना एवं भारतीय संगीत के अनुरूप अनुकूलन

वायलिन की तकनीकी संरचना उसके वादन की दोनों शैलियों को प्रभावित करती है। इसमें सामान्यतः चार मुख्य तार होते हैं, जिन्हें धनुष की सहायता से बजाया जाता है। बाएँ हाथ की उँगलियाँ तारों पर विभिन्न स्थानों पर दबाव डालकर उनकी प्रभावी लंबाई बदलती हैं, जिससे अलग-अलग स्वर प्राप्त होते हैं। वायलिन में स्थायी पर्दों का न होना इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है। इस कारण वादक स्वर की ऊँचाई में अत्यंत सूक्ष्म परिवर्तन कर सकता है। भारतीय संगीत में श्रुति, मींड और आंदोलन की दृष्टि से यह विशेषता अत्यंत उपयोगी है।

पाश्चात्य वादन में वायलिन को सामान्यतः कंधे और ठोड़ी के सहारे रखा जाता है, जबकि भारतीय वादन में इसे प्रायः बैठकर बजाने की एक अलग मुद्रा अपनाई जाती है। वाद्य का निचला भाग पैर अथवा टखने के पास टिकाया जाता है और उसका ऊपरी भाग शरीर के सहारे रखा जाता है। इस मुद्रा में बाएँ हाथ को तारों पर स्वतंत्र गति देने की सुविधा मिलती है। उत्तर भारतीय शैली में यह व्यवस्था विशेष रूप से उपयोगी है, क्योंकि राग-संगीत में मींड, स्वर-आंदोलन और सूक्ष्म स्वर-परिवर्तन के लिए उँगलियों की नियंत्रित गति आवश्यक होती है।

वायलिन के तारों का मिलान अथवा ट्यूनिंग भारतीय संगीत में कलाकार के स्वर-स्थान के अनुसार किया जाता है। पाश्चात्य वादन में तारों का सामान्य क्रम जी, डी, ए और ई होता है, जबकि भारतीय वादक अपनी सुविधा और संगीतात्मक

आवश्यकता के अनुसार अलग-अलग स्वर-क्रम अपनाते हैं। उत्तर भारतीय वादन में सा, प, सा, प का क्रम काफी प्रचलित है। कुछ कलाकार म, सा, प, रे अथवा अन्य क्रमों का भी प्रयोग करते हैं। डॉ. प्रशान्त मिश्र ने अपने शोध-लेख 'वायलिन की उत्पत्ति एवं विकास' में भारतीय वादन में प्रचलित इन विभिन्न मिलान-पद्धतियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार सा, प, सा, प का क्रम कई वादकों द्वारा अपनाया जाता है, क्योंकि इससे चारों तारों पर उँगलियों के संचालन और तार सप्तक तक पहुँचने की सुविधा मिलती है [1]।

ट्यूनिंग की यह व्यवस्था केवल तारों को मिलाने की तकनीकी प्रक्रिया नहीं है, बल्कि वादन की शैली को भी प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए, यदि किसी वादक की प्रस्तुति में लंबे स्वर, मींड और गायकी-अंग की प्रधानता है, तो उसे ऐसे तार-मिलान की आवश्यकता होगी जिसमें स्वर-क्रम और उँगलियों का संचालन उसकी अभिव्यक्ति को सहज बनाए। वहीं गतकारी वादन में तेज स्वर-समूहों, बार-बार तार बदलने और विभिन्न सप्तकों में गति के लिए भी तारों का उचित मिलान आवश्यक होता है।

वायलिन वादन में दोनों हाथों का समन्वय अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। बायाँ हाथ स्वर की ऊँचाई, मींड, गमक, आंदोलन और विभिन्न स्वर-सज्जाओं को नियंत्रित करता है, जबकि दायाँ हाथ धनुष की गति, दबाव, दिशा और स्वर की अवधि को नियंत्रित करता है। गायकी-अंग में धनुष का प्रयोग प्रायः लंबे, निरंतर और भावपूर्ण स्वर उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। इसके विपरीत, गतकारी में धनुष के छोटे और स्पष्ट आघात, पुनरावृत्त स्वर तथा लयात्मक गति को अधिक महत्त्व दिया जा सकता है।

हिंदुस्तानी संगीत में वायलिन की सफलता का एक आधार यह भी है कि वादक को केवल पाश्चात्य तकनीक में निपुण होना पर्याप्त नहीं होता। उसे रागों के स्वरूप, वादी-संवादी, न्यास-स्वर, आरोह-अवरोह, पकड़ और चलन का गहरा ज्ञान होना चाहिए। किसी राग के स्वर सही बजाना और उस राग का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करना दो अलग बातें हैं। उदाहरण के लिए, राग भैरव में कोमल ऋषभ और कोमल धैवत का प्रयोग केवल उनके निश्चित स्वर-स्थान पर बजाने से पूरा नहीं होता; उनके विशिष्ट आंदोलन को भी प्रस्तुत करना आवश्यक है। इसी प्रकार राग यमन में तीव्र मध्यम का प्रयोग और उससे जुड़े स्वर-संबंध राग की पहचान का महत्त्वपूर्ण आधार हैं। वायलिन पर इन सूक्ष्मताओं को व्यक्त करने के लिए श्रुति की शुद्धता और उँगलियों के सूक्ष्म नियंत्रण की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार वायलिन की बनावट उसे अनेक तकनीकी संभावनाएँ प्रदान करती है, लेकिन उन संभावनाओं का वास्तविक संगीतात्मक उपयोग तभी संभव है जब कलाकार भारतीय राग-संगीत के सिद्धांतों और व्यवहार का गहरा अभ्यास करे। यही कारण है कि उत्तर भारतीय वायलिन वादन में तकनीकी दक्षता के साथ रागदारी और संगीतात्मक संवेदनशीलता को समान महत्त्व दिया जाता है।

3. गायकी-अंग: कंठ-संगीत की अभिव्यक्ति और वायलिन

गायकी-अंग उत्तर भारतीय वायलिन वादन की सबसे विशिष्ट और प्रभावशाली शैलियों में से एक है। इसका मूल उद्देश्य वाद्य पर गायन की अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वायलिन पर केवल गायक की धुन की नकल की जाती है, बल्कि इसमें गायन की स्वर-संवेदना, वाक्य-विन्यास, भाव, मींड, गमक, स्वर-ठहराव और तानकारी को वाद्य की प्रकृति के अनुसार रूपांतरित किया जाता है। इस शैली में वादक को स्वर के साथ-साथ उस स्वर के भाव और उसके संगीतात्मक प्रयोजन को भी समझना पड़ता है।

खयाल गायकी में एक राग का विस्तार धीरे-धीरे किया जाता है। विलंबित खयाल में कलाकार राग के स्वरों का विस्तार करता है, स्वर-समूहों के माध्यम से राग की पहचान स्थापित करता है और बंदिश के शब्दों के आधार पर आलाप तथा बोल-आलाप विकसित करता है। गायकी-अंग के वायलिन वादन में इसी प्रक्रिया को वाद्य के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। वादक बंदिश की मूल धुन और उसके भाव को ध्यान में रखता है तथा उसके अनुरूप आलाप, स्वर-विस्तार और तानों का निर्माण करता है।

गायकी-अंग की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता स्वर का स्वाभाविक लगाव है। इसमें स्वर केवल एक निश्चित बिंदु पर उत्पन्न करके छोड़ नहीं दिया जाता, बल्कि उसका आरंभ, विस्तार, ठहराव और अगले स्वर तक पहुँचने की प्रक्रिया भी महत्त्वपूर्ण होती है। वायलिन की निरंतर स्वर-उत्पादन क्षमता इस आवश्यकता को पूरा करने में सहायक है। धनुष को एक दिशा में नियंत्रित रूप से चलाकर स्वर को लंबे समय तक बनाए रखा जा सकता है। इस दौरान बाएँ हाथ की उँगली को तार पर धीरे-धीरे सरकाकर एक स्वर से दूसरे स्वर तक मींड बनाई जा सकती है। मींड का स्वरूप राग के अनुसार बदलता है। कहीं यह लंबी और विस्तृत होती है, तो कहीं छोटे अंतराल में स्वर को जोड़ने का कार्य करती है।

गायकी-अंग में मींड के साथ आंदोलन का विशेष महत्त्व है। आंदोलन में किसी स्वर के आसपास नियंत्रित और विशिष्ट प्रकार का कंपन किया जाता है। राग भैरव में कोमल ऋषभ और धैवत का आंदोलन राग की गंभीर प्रकृति का आधार है। यदि वादक इन स्वरों को बिना आंदोलन के साधारण रूप से बजाता है, तो राग की विशिष्टता कम हो सकती है। वायलिन में उँगलियों की गति और धनुष के नियंत्रण के माध्यम से इस प्रकार के स्वर-आंदोलन को व्यक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार गमक में स्वर पर विशेष बल और तीव्रता के साथ कंपन अथवा दोलन का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए बाएँ हाथ की नियंत्रित गति के साथ धनुष का संतुलित दबाव आवश्यक होता है।

कण-स्वर, मुरकी, खटका और जमजमा भी गायकी-अंग के प्रमुख तत्त्व हैं। कण-स्वर में मुख्य स्वर से पहले अथवा उसके आसपास किसी अन्य स्वर का अत्यंत संक्षिप्त स्पर्श किया जाता है। मुरकी में कई स्वरों का तीव्र और सुगठित समूह प्रस्तुत होता है, जबकि खटका में स्वर का विशेष प्रकार का तीव्र आघात और सजावटी प्रयोग दिखाई देता है। इन सभी तत्त्वों को वायलिन पर प्रस्तुत करने के लिए केवल उँगलियों की गति पर्याप्त नहीं है; धनुष की दिशा, दबाव और स्वर की स्पष्टता का भी महत्त्व होता है। इन अलंकारों का प्रयोग राग की प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक राग में सभी स्वर-सज्जाएँ समान रूप से उपयुक्त नहीं होतीं।

गायकी-अंग में बोल-आलाप और बोल-तान का भी विशेष स्थान है। खयाल गायन में बंदिश के शब्दों के आधार पर राग का विस्तार किया जाता है। वायलिन पर शब्दों का वास्तविक उच्चारण संभव नहीं होता, लेकिन वादक शब्दों की लयात्मक संरचना और भाव को स्वर-रूप में व्यक्त कर सकता है। उदाहरण के लिए, बंदिश के किसी शब्द पर गायक जिस प्रकार स्वर को खींचता है, ठहराता है अथवा उसके अक्षरों के आधार पर तान विकसित करता है, उसी प्रकार वायलिन वादक धनुष और उँगलियों की गति से उस अभिव्यक्ति का संगीतात्मक रूप प्रस्तुत कर सकता है।

गायकी-अंग में तानों की प्रस्तुति भी केवल गति पर आधारित नहीं होती। तान का स्वर-क्रम, उसका रागानुकूल होना, आरोह-अवरोह की दिशा, स्वर-समूहों की स्पष्टता और अंत में सम अथवा उपयुक्त स्वर पर उसका ठहरना सभी समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें सपाट तान, वक्र तान, गमकदार तान तथा बोल-तान से प्रभावित स्वर-रचनाओं का प्रयोग किया जा सकता है। विलंबित खयाल के वातावरण में तानों का विस्तार अपेक्षाकृत खुला और भावपूर्ण होता है, जबकि द्रुत खयाल

में तीव्र गति और स्पष्टता की आवश्यकता बढ़ जाती है।

डॉ. एन. राजम का वादन गायकी-अंग के विकास का एक प्रमुख उदाहरण है। उन्होंने वायलिन पर खयाल गायकी की सूक्ष्मताओं को प्रस्तुत करने के लिए एक विशिष्ट शैली विकसित की। उनके वादन में स्वर का ठहराव, लंबी मींड, राग के स्वरों का भावपूर्ण विस्तार और गायन की वाक्य-रचना का विशेष प्रभाव दिखाई देता है। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र द्वारा प्रकाशित उनके संगीत-प्रलेखन में भी यह उल्लेख मिलता है कि उन्होंने कर्नाटक संगीत से हिंदुस्तानी शैली की ओर अपनी यात्रा के दौरान वायलिन पर गायकी-अंग की सूक्ष्मताओं को स्थापित करने के लिए निरंतर प्रयास किया [2]। उनकी शैली ने यह स्पष्ट किया कि वायलिन पर केवल स्वर-क्रमों का प्रदर्शन ही नहीं, बल्कि खयाल गायकी के भाव और राग-विस्तार को भी प्रभावी ढंग से व्यक्त किया जा सकता है।

गायकी-अंग का प्रयोग केवल खयाल तक सीमित नहीं है। ठुमरी, दादरा, भजन, टप्पा और अन्य उपशास्त्रीय शैलियों में भी इसका महत्त्व है। विशेष रूप से ठुमरी में शब्दों का भाव, स्वर का लचीलापन, छोटी-छोटी मुरकियाँ, मींड और बोल-बनाव अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हैं। वायलिन पर इन तत्त्वों को प्रस्तुत करने के लिए कलाकार को केवल राग का ज्ञान ही नहीं, बल्कि संबंधित गायन शैली की भावात्मक प्रकृति को भी समझना होता है। इसीलिए गायकी-अंग में वादक का गायन सुनने और समझने का अनुभव उसकी तकनीकी दक्षता जितना ही महत्त्वपूर्ण है।

हालाँकि, वायलिन पर गायकी-अंग प्रस्तुत करने की अपनी सीमाएँ भी हैं। मानवीय आवाज में शब्दों के उच्चारण, श्वास, स्वर की स्वाभाविक टूटन और भाव के अनुसार ध्वनि में परिवर्तन की जो संभावनाएँ होती हैं, वे वाद्य पर हूबहू संभव नहीं हैं। इसलिए अच्छा वादक गायन की नकल करने के बजाय उसकी मूल संगीतात्मक संवेदना को वायलिन की तकनीक में रूपांतरित करता है। यही रूपांतरण गायकी-अंग को वास्तविक कलात्मक पहचान प्रदान करता है।

4. गतकारी एवं तंत्रकारी-अंग: वाद्यगत अभिव्यक्ति, लयकारी और तकनीकी कौशल

गतकारी-अंग में वायलिन की अपनी वाद्यगत प्रकृति और तकनीकी संभावनाओं को प्रमुखता दी जाती है। गायकी-अंग में जहाँ स्वर की निरंतरता, भाव और कंठ-संगीत की सूक्ष्मताओं पर विशेष ध्यान होता है, वहीं गतकारी में निश्चित रचना, स्वर-समूहों की संरचना, लय के साथ उनका संबंध और वाद्य के माध्यम से विकसित की गई तकनीकी रचनात्मकता महत्त्वपूर्ण होती है। इस शैली का आधार सामान्यतः गत होती है, जो किसी निश्चित राग और ताल में तैयार की गई वाद्य-रचना होती है।

हिंदुस्तानी वाद्य-संगीत में गत का महत्त्व अत्यंत व्यापक है। किसी राग की प्रस्तुति में आलाप और जोड़ के माध्यम से राग का स्वरूप स्थापित करने के बाद गत के द्वारा कलाकार तालबद्ध प्रस्तुति की ओर बढ़ता है। गत में प्रायः स्थायी और अंतरा के स्वरूप वाली रचना होती है। तबले के साथ इसका संवाद विकसित होता है और वादक मुखड़े के माध्यम से बार-बार सम पर लौटता है। वायलिन पर भी इसी प्रकार की रचना प्रस्तुत की जा सकती है। गत के स्वर-समूहों को स्पष्टता और लयात्मक दृढ़ता के साथ प्रस्तुत करना आवश्यक होता है।

गतकारी-अंग को समझने के लिए यह ध्यान रखना चाहिए कि वायलिन सितार या सरोद की तरह मिजराब अथवा जवा से बजाया जाने वाला वाद्य नहीं है। इसलिए सितार के दा, रा, दिर और अन्य बोलों को वायलिन पर उसी यांत्रिक रूप में उत्पन्न करना संभव नहीं होता। वायलिन में धनुष के आघात, उसकी दिशा में परिवर्तन, छोटे और लंबे स्ट्रोक, तार-परिवर्तन तथा उँगलियों के स्वर-संयोजन से लयात्मक स्पष्टता प्राप्त की जाती है। इस प्रकार वादक वाद्य की अपनी तकनीक के अनुसार

गतकारी की अभिव्यक्ति विकसित करता है। अतः तंत्रकारी-अंग का अर्थ किसी दूसरे वाद्य की बोल-पद्धति की नकल करना नहीं, बल्कि वायलिन की अपनी ध्वनि और वादन-क्षमता से लयप्रधान रचना प्रस्तुत करना है।

गतकारी में सबसे पहले स्वर-समूहों की स्पष्टता और उनके लयात्मक विभाजन पर ध्यान दिया जाता है। गत की स्थायी और अंतरा के स्वर-समूहों को निर्धारित ताल में सही समय पर प्रस्तुत करना आवश्यक है। इसके बाद उसी सामग्री के आधार पर तोड़े, स्वर-विस्तार और तानें विकसित की जाती हैं। यहाँ वादक को यह ध्यान रखना पड़ता है कि लयकारी के विस्तार में राग की पहचान नष्ट न हो। केवल तेजी से स्वर बजाना गतकारी का उद्देश्य नहीं है; प्रत्येक स्वर-समूह का संगीतात्मक अर्थ और उसका ताल के साथ संबंध स्पष्ट होना चाहिए।

इस शैली में धनुष का प्रयोग गायकी-अंग की तुलना में अलग प्रकार से किया जाता है। छोटे और स्पष्ट धनुष-आघातों से तीव्र स्वर-समूहों को अलग-अलग पहचान दी जा सकती है। एक ही स्वर की पुनरावृत्ति, दो या अधिक स्वरों के बीच तीव्र परिवर्तन तथा विभिन्न तारों के बीच आवागमन से लयात्मक प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। जहाँ गायकी-अंग में धनुष की लंबी गति स्वर को विस्तार देती है, वहीं गतकारी में धनुष की नियंत्रित छोटी गति स्वर-समूहों को स्पष्ट और प्रभावशाली बनाती है।

गतकारी का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व लयकारी है। लयकारी में वादक निर्धारित ताल के भीतर स्वरों को विभिन्न मात्रात्मक अनुपातों में प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए, तीन, चार अथवा छह स्वरों के समूहों को अलग-अलग गति में प्रस्तुत करके लय का विस्तार किया जा सकता है। इसमें सम, ताली, खाली और विभाग की समझ आवश्यक होती है। कोई भी तान या तोड़ा यदि ताल की संरचना से अपना संबंध खो दे, तो उसकी प्रस्तुति प्रभावहीन हो सकती है। इसलिए वादक को स्वर-क्रम के साथ-साथ ताल के आंतरिक विभाजन का भी गहरा ज्ञान होना चाहिए।

तिहाई गतकारी-अंग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसमें किसी स्वर-समूह अथवा लयात्मक वाक्यांश को तीन बार इस प्रकार दोहराया जाता है कि उसका अंतिम भाग सम पर आकर समाप्त हो। वायलिन पर तिहाई प्रस्तुत करने के लिए स्वर-समूह की लंबाई, उसकी शुरुआत और ताल में उपलब्ध मात्राओं का सही अनुमान आवश्यक होता है। कुशल वादक तिहाई को केवल गणितीय संरचना के रूप में नहीं, बल्कि संगीतात्मक समाधान के रूप में प्रस्तुत करता है। उसकी प्रभावशीलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह राग के स्वरूप और प्रस्तुति के प्रवाह के भीतर कितनी स्वाभाविक प्रतीत होती है।

गतकारी में तोड़े और तानों की रचना का भी विशेष स्थान है। तोड़े सामान्यतः निश्चित स्वर-समूहों पर आधारित होते हैं, जिनमें गति, स्वर-क्रम और लय का विशेष समन्वय होता है। कभी इनमें सीधे आरोही-अवरोही स्वर-क्रम होते हैं, तो कभी वक्र और मिश्रित स्वर-समूहों का प्रयोग किया जाता है। वायलिन पर इन्हें प्रस्तुत करते समय बाएँ हाथ की उँगलियों की गति के साथ धनुष का संतुलन आवश्यक होता है। यदि उँगलियाँ तेज गति से चलें लेकिन धनुष का नियंत्रण असमान हो, तो ध्वनि की स्पष्टता प्रभावित होती है। इसी कारण गतकारी में दोनों हाथों के समन्वय का विशेष महत्त्व है।

तंत्रकारी-अंग में झाला-सदृश प्रस्तुति भी की जा सकती है, यद्यपि वायलिन पर इसका स्वरूप सितार के झाले से भिन्न होता है। सितार में चिकारी के तारों के प्रयोग से जो विशिष्ट ध्वनि उत्पन्न होती है, वह वायलिन पर उसी रूप में उपलब्ध नहीं होती। फिर भी वायलिन के खुले तारों और तीव्र धनुष-चालन के माध्यम से तीव्र लयात्मक आवर्तन तथा स्वर-प्रधान प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। यह एक वाद्यगत अनुकूलन है, न कि सितार के झाले की हूबहू पुनरावृत्ति।

पंडित वी. जी. जोग का वादन गतकारी और तंत्रकारी-अंग के संदर्भ में विशेष महत्त्व रखता है। उनकी प्रस्तुतियों में राग

की शुद्धता के साथ तानों, तोड़ों और लयकारी का प्रभावशाली उपयोग दिखाई देता है। वे वायलिन पर ऐसी प्रस्तुति देने में समर्थ थे जिसमें आलाप की गंभीरता और तीव्र लयात्मक वादन दोनों का संतुलन बना रहता था। उनके वादन में विभिन्न गायन-परंपराओं की रागात्मक समझ और वाद्य की तकनीकी दक्षता का सुंदर समन्वय दिखाई देता है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि गतकारी को केवल द्रुत लय अथवा तेज वादन से जोड़ना उचित नहीं है। विलंबित और मध्यलय की गत में भी स्वर-विन्यास, लयकारी तथा रचना के विस्तार की पर्याप्त संभावनाएँ होती हैं। कई बार धीमी गति में प्रस्तुत की गई गत स्वर के ठहराव और राग के भाव को सामने लाती है, जबकि द्रुत गत में वादक की तकनीकी क्षमता और लय पर पकड़ दिखाई देती है। इस प्रकार गतकारी में गति से अधिक महत्त्वपूर्ण है—रचना, स्वर-स्पष्टता और ताल के साथ उसका संबंध।

5. दोनों शैलियों का पारस्परिक संबंध, प्रस्तुति में उपयोगिता एवं निष्कर्ष

गायकी-अंग और गतकारी-अंग को एक-दूसरे के विरोधी रूप में देखना उचित नहीं है। ये दोनों वायलिन वादन की अलग-अलग अभिव्यक्ति-प्रवृत्तियाँ हैं, जिनमें अनेक स्तरों पर परस्पर संबंध पाया जाता है। एक उच्च कोटि का वायलिन वादक प्रायः दोनों शैलियों के तत्त्वों का उपयोग करता है। राग का विस्तार करते समय वह गायकी-अंग की मींड, आंदोलन और स्वर-ठहराव का प्रयोग कर सकता है, जबकि तालबद्ध प्रस्तुति में गतकारी के तोड़े, तानें और लयकारी को प्रमुखता दे सकता है।

उदाहरण के लिए, राग यमन की विलंबित प्रस्तुति में वादक लंबे आलाप और मींड के माध्यम से राग का शांत तथा विस्तृत स्वरूप प्रस्तुत कर सकता है। इस चरण में गायकी-अंग की प्रधानता होगी। इसके बाद मध्यलय की गत में वही कलाकार निश्चित स्वर-समूहों, लयात्मक तोड़ों और तिहाइयों का प्रयोग करके गतकारी की विशेषताएँ प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार एक ही राग की प्रस्तुति में दोनों शैलियाँ अलग-अलग स्तर पर कार्य करती हैं और समग्र प्रस्तुति को अधिक व्यापक बनाती हैं।

इन दोनों शैलियों के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर स्वर-समय और लय के व्यवहार में भी दिखाई देता है। गायकी-अंग में स्वर के भावात्मक विस्तार के लिए कभी-कभी ताल की मात्राओं के भीतर अधिक स्वतंत्रता ली जाती है। आलाप और बोल-आलाप में स्वर का ठहराव तथा वाक्य की स्वाभाविकता महत्त्वपूर्ण होती है। इसके विपरीत, गतकारी में निश्चित ताल-चक्र के भीतर रचना की संरचना अधिक स्पष्ट होती है। यहाँ सम पर लौटना, तिहाई का निर्माण और विभिन्न मात्राओं में स्वर-समूहों का विभाजन प्रमुख भूमिका निभाता है। फिर भी, दोनों शैलियों में राग की मर्यादा और स्वर-शुद्धता का पालन अनिवार्य है।

वायलिन की एक महत्त्वपूर्ण उपयोगिता संगत के क्षेत्र में भी है। गायन के साथ संगत करते समय वादक को मुख्य गायक की शैली, स्वर-स्थान, राग और प्रस्तुति की गति के अनुसार स्वयं को ढालना पड़ता है। उसे गायक के प्रत्येक स्वर या आलाप की अनावश्यक पुनरावृत्ति नहीं करनी चाहिए, बल्कि आवश्यक स्थानों पर स्वर-सहारा, संक्षिप्त उत्तर और रागात्मक समर्थन देना चाहिए। अच्छी संगत में वाद्य गायक की अभिव्यक्ति को सहयोग देता है, न कि उससे प्रतिस्पर्धा करता है। इस क्षेत्र में गायकी-अंग का ज्ञान विशेष रूप से उपयोगी होता है।

स्वतंत्र वादन में कलाकार को राग का संपूर्ण विकास स्वयं करना होता है। उसे आलाप, जोड़, गत, तान और समापन की संरचना पर ध्यान देना पड़ता है। इस दृष्टि से गायकी और गतकारी दोनों का अभ्यास आवश्यक है। केवल गायकी-अंग का

अभ्यास करने वाला कलाकार कभी-कभी गत की लयात्मक संरचना और तकनीकी पक्ष को पर्याप्त विस्तार नहीं दे पाता, जबकि केवल गतकारी पर निर्भर कलाकार की प्रस्तुति में स्वर का भावात्मक विस्तार कम हो सकता है। दोनों शैलियों का संतुलित अध्ययन वादक को अधिक व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

शिक्षा और अभ्यास की दृष्टि से भी इन दोनों शैलियों को क्रमबद्ध रूप से सीखना आवश्यक है। विद्यार्थी को सबसे पहले सा, प और अन्य स्वरों की शुद्धता, तारों का सही मिलान, स्वर-स्थान की पहचान तथा धनुष पर नियंत्रण विकसित करना चाहिए। इसके बाद रागानुसार सरल अलंकार, मींड और स्वर-आंदोलन का अभ्यास कराया जा सकता है। जब स्वर-शुद्धता और तकनीकी नियंत्रण पर्याप्त विकसित हो जाए, तब विद्यार्थी को राग की छोटी-छोटी गतों, तोड़ों और तालबद्ध स्वर-समूहों का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार क्रमिक शिक्षण से गायकी और गतकारी दोनों के लिए आधार तैयार होता है। इस क्षेत्र में डॉ. एन. राजम की पुस्तक 'बेला बोधक' तथा भारतीय तंत्री वाद्यों पर उपलब्ध हिंदी साहित्य उपयोगी संदर्भ प्रदान करते हैं। प्रशान्त मिश्र के लेख में भी वायलिन पर गायकी और तंत्रकारी दोनों शैलियों के प्रचलन तथा उनकी भिन्न विशेषताओं का उल्लेख मिलता है। उस लेख में गायकी-अंग में खयाल, टप्पा, ठुमरी, दादरा और भजन जैसी शैलियों की प्रस्तुति तथा तंत्रकारी-अंग में गत और वाद्यगत तकनीकों के प्रयोग पर चर्चा की गई है [1]। इससे स्पष्ट होता है कि उत्तर भारतीय वायलिन वादन का विकास केवल एक शैली तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसने अलग-अलग संगीतात्मक आवश्यकताओं के अनुरूप अनेक रूप ग्रहण किए हैं।

अंततः कहा जा सकता है कि उत्तर भारतीय वायलिन वादन की वास्तविक समृद्धि गायकी-अंग और गतकारी-अंग के संतुलित प्रयोग में निहित है। गायकी-अंग वायलिन को स्वर की भावात्मकता, राग की सूक्ष्मता और कंठ-संगीत की अभिव्यक्ति से जोड़ता है, जबकि गतकारी-अंग उसे स्वतंत्र वाद्यगत संरचना, लयकारी और तकनीकी कौशल प्रदान करता है। दोनों शैलियाँ मिलकर वायलिन को ऐसा माध्यम बनाती हैं जिसके द्वारा राग का गंभीर विस्तार और चपल लयात्मक प्रस्तुति दोनों संभव हैं।

इसलिए वायलिन का अध्ययन केवल उँगलियों की गति और धनुष-चालन सीखने तक सीमित नहीं होना चाहिए। एक श्रेष्ठ वादक के लिए राग का गहरा ज्ञान, गायन सुनने की क्षमता, ताल की समझ, स्वर की शुद्धता तथा वाद्य की तकनीकी संभावनाओं का समुचित उपयोग अनिवार्य है। इन सभी तत्त्वों के समन्वय से ही वायलिन उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में अपनी विशिष्ट पहचान और अभिव्यक्ति की पूर्णता प्राप्त करता है।

संदर्भ ग्रंथ एवं शोध सामग्री

1. मिश्र, प्रशान्त। (2021). "वायलिन की उत्पत्ति एवं विकास।" अनहद-लोक: प्रतिध्वनि कला संस्कृति की, वर्ष 7, अंक 14, पृष्ठ 97–99। व्यंजना आर्ट एण्ड कल्चर सोसायटी, प्रयागराज।

2. राजम, डॉ. एन. (1969). बेला बोधक। प्रथम संस्करण, हिन्द प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी।

3. महाशिव, प्रकाश। (1994). भारतीय संगीत के तंत्री वाद्य। प्रथम संस्करण, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।

4. मिश्र, डॉ. लालमणि। (1973). भारतीय संगीत वाद्य। भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।

5. मिश्र, पं. कामेश्वरनाथ। (1997). काशी की संगीत परम्परा। भारत बुक सेंटर, लखनऊ।

6. भातखंडे, पं. विष्णुनारायण। हिंदुस्तानी संगीत पद्धति: क्रमिक पुस्तक मालिका। विभिन्न खंड, संगीत कार्यालय, हाथरस।

7. इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र। हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत श्रृंखला: डॉ. एन. राजम—हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की साधिका। श्रव्य-दृश्य शोध एवं प्रलेखन सामग्री।

*****